माननीय श्रीमती निर्मला सीतारमण जी द्वारा प्रथम डॉ. एस. एल. भैरप्पा स्मृति व्याख्यान

नमस्कार विक्रम संपत जी, राजलक्ष्मी जी, देवेश वर्मा जी और यहाँ उपस्थित सभी प्रबुद्ध एवं सम्माननीय श्रोतागण। मुझे यह अवसर देने के लिए धन्यवाद। मुझे यह अवसर प्रदान करने के लिए आप सभी का बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं देख सकती हूँ कि इस पूरे आयोजन को इतने प्रभावशाली ढंग से साकार करने के लिए जहाँ तक मेरी जानकारी है विक्रम जी ने पिछले 12–13 वर्षों में बहुत ही उत्कृष्ट और समर्पित संगठनात्मक कार्य किया है। और आज विभिन्न श्रेणियों में पुरस्कार प्राप्त करने वाले सभी विजेताओं को हार्दिक बधाई देती हूँ।

यह एक ऐसा प्रयास है, जो यदि आप मुझसे पूछें, तो थोड़ा देर से शुरू हुआ है। इसका उद्देश्य विक्रम जी के प्रयासों को कमतर आँकना बिल्कुल नहीं है; भारत को कम-से-कम पिछले चार-पाँच दशकों से इस तरह के प्रयास की आवश्यकता थी। हम इस दिशा में चूक गए हैं। और वास्तव में, पिछले चार-पाँच दशकों से इस तरह के प्रयासों का अभाव ही एक कारण रहा है कि हमारे विरोधी इतिहास को अपने ढंग से प्रस्तुत करने में, अथवा हमारे सामाजिक जीवन को एक बिल्कुल अलग और असत्य रूप में प्रचारित करने में, कहीं अधिक शक्तिशाली हो गए हैं। बेशक, आगे बात करते हुए मैं आंशिक रूप से इसका उल्लेख करूँगी।

आज सर्वपल्ली राधाकृष्णन जी का जन्मदिवस है—भारत में आज का दिन शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है, जबकि हम गुरु पूर्णिमा को अपना शिक्षक दिवस मानते हैं। राधाकृष्णन जी को उनकी विद्वत्ता और भारत की वैदिक परंपराओं के प्रति उनकी गहरी समझ एवं सराहना के लिए 5 सितंबर को निश्चित रूप से याद किया जाएगा। और भारत का धर्मनिरपेक्ष इतिहास हमें बताता है कि यह दिन भी शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है। इसलिए, शिक्षकों का सम्मान करने के लिए हमारे पास एक से अधिक दिन हो सकते हैं—चाहे वह गुरु पूर्णिमा हो या 5 सितंबर। इसलिए, आज सुबह आप सभी के सामने खड़े होकर उन अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर बात करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है, जो हमारी पीढ़ी और आने वाली पीढ़ी—चाहे वह जेनरेशन जेन हो या जेनरेशन अल्फा—के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

और दिल्ली में इस भारी बारिश के दिन इस विषय पर चर्चा करने का अवसर प्रदान करने के लिए मैं विक्रम जी को एक बार फिर धन्यवाद देता हूँ। मुझे यकीन है कि विक्रम जी द्वारा किए गए इस महान कार्य को सुनने के लिए यहाँ और भी बहुत से लोग उपस्थित होते। लेकिन विचारक और शिक्षक एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, इसलिए हम दोनों का सम्मान करते हैं। और स्मृति व्याख्यान में डॉ. भैरप्पा के बारे में अपनी बात पर लौटने से पहले, आज के पुरस्कारों और उनके नामकरण का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए। ये तीन महान नायक हैं, जिन्होंने इस भावना को जीवित रखा—चाहे वह आर.सी. मजूमदार हों, एस.एल. भैरप्पा हों या अनंत पाई हों।

इन पुरस्कारों के नामों का चयन अपने आप में हमें यह बताता है कि भारत के सामाजिक और ऐतिहासिक विमर्श में कितने बड़े-बड़े दिग्गज उपेक्षित रह गए—आम भारतीय समाज द्वारा भी और भारत के उस संभ्रांत वर्ग द्वारा भी, जिसने यह तय किया कि हमारी इतिहास की किताबों में क्या जाएगा, हमारे अखबारों में क्या छपेगा, हमारी सांस्कृतिक अकादमियों में किसे जगह मिलेगी और इसी तरह आगे भी। इसलिए, इन नामों का यह चयन अपने आप में आपके इस अत्यंत सराहनीय और प्रशंसनीय प्रयास का प्रमाण है, विक्रम जी। और यह बेहद सार्थक है कि भारत अब एस.एल. भैरप्पा को एक उपन्यासकार के रूप में और एक ऐसे व्यक्तित्व के रूप में सम्मानित कर रहा है, जिन्होंने हमारे लिए एक ऐसी राह बनाई, जिस पर हम आगे बढ़ सकें—एक ऐसे भारत में, जहाँ उनके विचारों और उनके मार्ग पर चलने वाले लोगों के लिए परिस्थितियाँ लगातार कठिन होती जा रही थीं।

उनके डॉक्टरेट शोध-प्रबंध का शीर्षक ही उनके पूरे जीवन की दिशा को परिभाषित करने वाला था—'सत्य मट्टु सौंदर्य', अर्थात् 'सत्य और सौंदर्य'। इसे 1966 में महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा में प्रस्तुत किया गया था। उनकी विद्वतापूर्ण यात्रा अत्यंत कठिन रही। अपनी आत्मकथा 'भित्ति' में भैरप्पा अपने ऐसे बचपन को याद करते हैं, जो घोर गरीबी, कम उम्र में माँ को खो देने, अस्थिर पारिवारिक परिस्थितियों और प्लेग की महामारी के दौरान भाई-बहनों तथा रिश्तेदारों को खो देने की त्रासदी से भरा हुआ था। निश्चय ही, वह एक अत्यंत कठिन जीवन रहा होगा—ऐसा जीवन, जिसकी पीड़ा और संघर्ष को शब्दों में बयान कर पाना भी संभव नहीं है।

इसलिए राज्य के अलग-अलग हिस्सों में रिश्तेदारों द्वारा अलग-अलग समय पर उनका पालन-पोषण किया गया। उन्होंने कठिन परिस्थितियों के बीच अपनी शिक्षा पूरी की। जिन वास्तविकताओं से वे स्वयं गुज़रे थे, उन जीवन-अनुभवों ने उनके लेखन को परिपक्वता प्रदान की। लेकिन उनके मन में कोई कड़वाहट नहीं आई। संयम उनके लेखन की एक प्रमुख विशेषता था—एक ऐसा यथार्थवाद, जिसमें भावुकता का कोई स्थान नहीं था। उनके इन जीवन-अनुभवों के साथ तैयारी की एक असाधारण कठोरता भी जुड़ी हुई थी। भैरप्पा किसी भी दुनिया के बारे में तब तक नहीं लिखते थे, जब तक उन्होंने उसमें प्रवेश करने और उसे भीतर से समझने का प्रयास न किया हो। शास्त्रीय संगीतकारों पर आधारित अपने प्रमुख उपन्यास 'मंद्र' को लिखने से पहले भी उन्होंने अनुभव किया। यहाँ विक्रम जी भी संगीत और संगीतकारों पर काम कर रहे हैं—उन्होंने स्वयं शास्त्रीय संगीत सीखा और लंबे समय तक गायकों के साथ रहकर उनके जीवन और संगीत को करीब से समझा।

इसलिए, वे उस अनुभव को शब्दों में व्यक्त करने से पहले स्वयं जीना चाहते थे। यही वजह है कि जब उन्होंने उसके बारे में लिखा, तो उसमें इतनी प्रामाणिकता और सच्चाई थी कि उनके लिखे हुए हर शब्द में वह अनुभव सीधे महसूस किया जा सकता था। इसीलिए, उन्होंने गायकों के साथ लंबे समय तक रहकर उनके जीवन को करीब से समझा। वे उस दुनिया की कला और उसके पीछे के जीवन को समझना चाहते थे—महत्वाकांक्षा, अनुशासन, असुरक्षा और उस दुनिया के भीतर के जटिल रिश्तों को। अपने दूसरे कालजयी उपन्यास 'पर्व' के लिए उन्होंने महाभारत से जुड़े विभिन्न स्थानों की यात्रा की, जिसमें कुरुक्षेत्र और हस्तिनापुर जाना भी शामिल था। उन्होंने हिमालयी क्षेत्र के उन समुदायों का भी अध्ययन किया, जहाँ भ्रातृ बहुपतित्व की प्रथा हाल के समय तक विद्यमान थी।

वे महाभारत लिख सकते थे, सभी द्वितीयक स्रोतों को देख सकते थे और भारत की इतनी सारी अलग-अलग भाषाओं में पहले से लिखी जा चुकी महाभारत की विभिन्न रचनाओं का विश्लेषण कर सकते थे। लेकिन नहीं, वे उन स्थानों पर गए। वे उन लोगों के साथ रहकर उस जीवन का अनुभव लेना चाहते थे। एक लेखक, जो वास्तव में अपने पाठकों के साथ ईमानदारी से संवाद करना चाहता है, उस संवाद के लिए जिस हद तक जाता है—और जितने कष्ट उठाता है—वह वास्तव में आपको स्वयं उस लेखक के बारे में उसकी किताब से भी कहीं अधिक बताता है। लेकिन भैरप्पा इसी मिट्टी के बने थे। इसी कारण वे यह समझने का प्रयास कर सके कि ऐसे परिवार और ऐसी पारिवारिक संरचनाएँ वास्तव में स्नेह, कर्तव्य, ईर्ष्या और अंतरंगता को किस हद तक और किस प्रकार आकार देती हैं।

इसलिए उन्होंने पहले उस दुनिया में प्रवेश किया और उसके बाद ही उसे हमारे लिए फिर से गढ़ा। उनका यह गहन तल्लीन हो जाना उनके लेखन की सबसे बड़ी ताकतों में से एक को स्पष्ट करता है—वह सूक्ष्मता, जिसके साथ वे मानवीय रिश्तों को उकेरते हैं। उनके पात्र कभी भी

किसी विचारधारा के साँचे में ढले हुए नहीं होते। हम देखते हैं कि दबाव में लोग कैसे प्रतिक्रिया देते हैं, कर्तव्य और इच्छा कैसे टकराते हैं, और भावना में आया एक छोटा-सा बदलाव वास्तव में पूरे रिश्ते को कैसे बदल सकता है। पाठक केवल कहानी का अनुसरण नहीं करता; उसे ऐसा महसूस होता है कि वह स्वयं उसके भीतर मौजूद है। इस पद्धति के पीछे साहित्य का एक स्पष्ट दर्शन था। 'नानेंके बारेयुत्तेने'—अर्थात् 'मैं क्यों लिखता हूँ?'—नामक पुस्तक में भैरप्पा ने इस विचार को खारिज कर दिया कि साहित्य को किसी भी 'वाद' का साधन बनना चाहिए—चाहे वह वामपंथी हो, दक्षिणपंथी हो या कोई अन्य—या सामाजिक प्रगति के किसी पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का माध्यम बनना चाहिए।

इसलिए, भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से प्रेरणा लेते हुए उन्होंने तर्क दिया कि साहित्य को पाठक को 'रस' में डुबो देना चाहिए—आश्चर्य, करुणा, साहस, कोमलता और मानवीय भावनाओं के पूरे दायरे में; जिसे हम 'नवरस' कहते हैं। साहित्य का उद्देश्य अनुभव को गहरा करना और संवेदनशीलता को परिष्कृत करना है, न कि कोई राजनीतिक निष्कर्ष थोपना। यही कारण है कि उनके उपन्यास गढ़े हुए नहीं, बल्कि जिए हुए लगते हैं। डॉ. भैरप्पा पहली बार मेरी चेतना में कैसे आए, इस पर मुझे एक व्यक्तिगत अनुभव साझा करने की अनुमति दें। दशकों पहले, मैंने 'वंशवृक्ष' का एक नाटक के रूप में मंचन देखा था। वह एक बहुत ही शौकिया नाट्य-समूह था, लेकिन उन्होंने उसका मंचन किया था। दर्शकदीर्घा में बैठकर उन पात्रों को परंपरा और कर्तव्य से जूझते हुए देखना—उस प्रस्तुति का तनाव मेरे मन में गहराई से अंकित हो गया। यह तमिलनाडु के त्रिची में हुआ था।

मैं इसका उल्लेख इसलिए कर रही हूँ क्योंकि मेरी स्मृति में वह मंच केवल एक पृष्ठभूमि नहीं है; वह उस केंद्रीय रूपक का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जिसे मैं आज आपके सामने रखना चाहती हूँ। जब हम डॉ. भैरप्पा की साहित्यिक यात्रा पर नज़र डालते हैं, तो लगभग 15 वर्षों के अंतराल से उनके जीवन में दो अलग-अलग शिखर दिखाई देते हैं। पहला था 1965 से 1979 के बीच का कलात्मक उत्कर्ष—'वंशवृक्ष', 'गृहभंग' और 'दाटु' जैसी कालजयी कृतियों का दौर, जिसके लिए उन्हें 1975 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला, और अंततः 'पर्व' जैसी महान कृति सामने आई। दूसरा शिखर लगभग 2007 से शुरू हुआ, जब उन्हें अभूतपूर्व जन-स्वीकृति और व्यापक पाठकीय प्रतिक्रिया मिली। 'आवरण' का प्रकाशन से पहले ही पूरा संस्करण बिक गया और केवल पाँच महीनों में इसके 10 पुनर्मुद्रण हुए—जो भारतीय प्रकाशन जगत में एक रिकॉर्ड था—जबकि 'पर्व' अब तक 19 संस्करणों में प्रकाशित हो चुका है।

भारतीय सिनेमा के प्रमुख फिल्मकारों ने उनके छह उपन्यासों को बड़े पर्दे पर रूपांतरित किया। 'वंशवृक्ष' ने 1971 में गिरीश कर्नाड को राष्ट्रीय पुरस्कार दिलाया, जबकि गिरीश कासरवल्ली ने 'नाई नेरालु' को पर्दे पर जीवंत किया। फिर भी यहाँ एक गहरा विरोधाभास छिपा है: जिन दिग्गजों ने भैरप्पा की कृतियों को रूपांतरित किया और इसके लिए राष्ट्रीय सम्मान अर्जित किया, उन्हीं में से कुछ बाद में उनके प्रति तीखी आलोचनात्मक शत्रुता दिखाने वाले लोगों में शामिल हो गए। भैरप्पा की ईमानदारी ही उनके लिए एक बंधन बन गई। उन्हें इस तरह

एक खाँचे में क्यों बाँध दिया गया? इसका उनके साहित्यिक कौशल से कोई लेना-देना नहीं था; इसका पूरा संबंध उनके विचारों और उनकी अभिव्यक्ति की अडिग ईमानदारी से था।

टीपू सुल्तान जैसे जटिल ऐतिहासिक व्यक्तियों के विषय में, उन्होंने समकालीन राजनीतिक सुविधा के अनुरूप ऐतिहासिक अभिलेखों से प्राप्त निष्कर्षों को ढालने से इनकार कर दिया। 91 वर्ष की आयु में उन्होंने अपने निष्कर्षों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया: "टिप्पु मूलतः क्रूर था"—कन्नड़ में भैरप्पा ने यही कहा: "टीपू मूल रूप से एक क्रूर व्यक्ति था।" अर्थात "टिप्पुवन्नु हीरो माडिकोंडु बरेयुत्तारे", जिसका अर्थ है, "वे टीपू को नायक बनाकर लिखते रहते हैं"—यह भी भैरप्पा का ही अवलोकन था। और यह इसी प्रकार की बौद्धिक ईमानदारी थी—ऐतिहासिक अभिलेखों से जो उन्होंने पाया, उसे बिना छिपाए स्वीकार करने की ईमानदारी और उसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की ईमानदारी—जिसके कारण उन्हें एक खास खांचे में सीमित कर दिया गया।

हर किसी के लिए उन्हें इस दायरे में बाँध देना आसान था कि,"अरे, वे तो उस वर्ग के लोगों में से हैं जो एक अलग इतिहास लाना चाहते हैं, जबकि यह वह इतिहास है जो हम आपको देना चाहते हैं। इसे स्वीकार कीजिए, अपनाइए या छोड़ दीजिए। लेकिन नहीं, हम उस दूसरे इतिहास को कोई जगह नहीं देंगे।" लेकिन वह दूसरा इतिहास "दूसरा" नहीं था—वही तथ्य था। भैरप्पा के ये शब्द मेरे अपने नहीं हैं। उन्होंने यह बात 14 नवंबर 2022 को मैसूरु में कही थी। मुझे पूरा विश्वास है कि आप इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। उन्होंने यह बात 'टीपू निज कनसगळु' नाटक के लोकार्पण के अवसर पर कही थी। जो मूल रूप से ऐतिहासिक अभिलेखों के शोध पर आधारित एक वक्तव्य था, उस पर राजनीतिक कठोरता का आरोप लगाकर हमला किया गया। इसके बावजूद, वे अपने शिल्प की सीमाओं को लेकर हमेशा स्पष्ट थे।

बरेयुवुदु नन्न माध्यम। नानू बरेयुतीनि, बेंकि हाकोडिल्ला।" उन्होंने कन्नड़ में यह कहा था: "लिखना मेरा माध्यम है। मैं लिखता हूँ, आग नहीं भड़काता।" और उन्होंने यह बात 19 जनवरी 2018 को नृपतुंग पुरस्कार के अपने भाषण के दौरान कही थी। इसलिए डॉ. भैरप्पा को बिल्कुल भी चुप नहीं कराया गया, लेकिन संस्थागत रैंकिंग के स्तर पर गेटकीपिंग ज़रूर हुई। कर्नाटक में 'नव्य' आंदोलन के प्रणेता यू. आर. अनंतमूर्ति ने उन्हें—यानी भैरप्पा को—एक उपन्यासकार के बजाय एक बहस करने वाला व्यक्ति कहकर खारिज कर दिया था। और यह मई 2007 के आसपास की बात है, जब अनंतमूर्ति ने यह कहकर भैरप्पा को नीचा दिखाने की कोशिश की कि वे सिर्फ बहस कर सकते हैं; एक उपन्यासकार के रूप में लेखन नहीं कर सकते।

कन्नड़ साहित्य परिषद के तत्कालीन अध्यक्ष चंद्रशेखर पाटिल ने 'आवरण' पर बेहद अपमानजनक तरीके से हमला किया। पाठकों द्वारा तो उन्हें सिर-आंखों पर बैठाया गया, लेकिन संस्थागत द्वारपालों ने ऐसा नहीं किया। इसके बावजूद, स्थापित पारिस्थितिकी तंत्र ने उन्हें अपने द्वारा प्रतिष्ठित दिग्गजों के समकक्ष दर्जा देने से इनकार कर दिया। जिन आलोचकों ने उनका सबसे कठोर मूल्यांकन किया, उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार मिले; लेकिन भैरप्पा को यह कभी नहीं मिला। यह बात हमें सीधे हमारी राष्ट्रीय और बौद्धिक चर्चा की शब्दावली में मौजूद मूलभूत विकृति की ओर ले जाती है। पारंपरिक राजनीतिक शब्दावली में हम बड़ी आसानी से विभिन्न वैचारिक रंगों की बात करते हैं। हम रूढ़िवादी उदारवादी,

उदारवादी उदारवादी और उग्रवादी उदारवादी जैसे शब्द सुनते हैं। ये ऐसे लेबल हैं जो लोगों को एक खास दायरे में सीमित करने के लिए दिए जाते हैं।

फिर भी, आधुनिक भारत में देखिए कि किस तरह इस पैमाने को मनमाने ढंग से अपने पक्ष में हेरफेर किया गया है। कोई भारतीय रूढ़िवादी उदारवादी, जो दस्तावेज़ी ऐतिहासिक तथ्यों को सामने रखता है, उसे तुरंत चरम दक्षिणपंथी का ठप्पा लगा दिया जाता है। ध्यान दीजिए कि उग्रवाद का यह लेबल कभी दूसरी दिशा में लागू नहीं किया जाता। एक निष्पक्ष, स्पष्टवादी और तथ्यों पर आधारित विद्वान को कभी मध्य मार्ग में स्थान नहीं लेने दिया जाता; न ही उसे कभी मध्यवर्ती उदारवादी, स्पष्टवादी उदारवादी या ईमानदार उदारवादी के रूप में स्वीकार किया जाता है। हमारी सार्वजनिक बहस में ऐसा कोई पैमाना ही नहीं है, जिसमें कोई मध्य-बिंदु हो। यह ऐसा है मानो 'उदारवादी' शब्द उन लोगों का निजी एकाधिकार बन गया हो, जो भारतीय समाज को केवल एक ही वामपंथी वैचारिक दृष्टिकोण से देखते हैं। यही वह वामपंथी वैचारिक दृष्टिकोण है और यहाँ आप कुलपति शांतिश्री को हर दिन इसका सामना करते हुए देख सकते हैं।

यही प्रामाणिक भारतीय उदारवादी मूल्यों और एक थोपे गए उदारवाद के बीच की विभाजन-रेखा है। पहला, पूर्वपक्ष में निहित बहस की एक प्राचीन परंपरा है: प्रत्युत्तर देने से पहले अपने विरोधी के पक्ष को उसके सबसे मजबूत और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता। यह भारतीय परंपरा थी; पूर्वपक्ष में विरोधी के पक्ष को पहले स्पष्ट रूप से रखा जाता था। दूसरा, एक ऐसा सदस्यता कार्ड है, जहाँ एक स्वयंभू द्वारपाल यह तय करता है कि मंच पर किसे प्रवेश मिलेगा और किसे नहीं। एक आत्मविश्वासी सभ्यता के लिए यह आवश्यक है कि उसका सार्वजनिक विमर्श एक खुले मंच की तरह काम करे। उस मंच पर बाईं ओर भी जगह होनी चाहिए, दाईं ओर भी, और सबसे बढ़कर, केंद्र में भी एक जगह होनी चाहिए।

विचारकों को दोनों तरफ से प्रवेश करने में सक्षम होना चाहिए—वे अभिनेता हैं, वे मंच पर आएँगे, वे आपके सामने अपनी प्रस्तुति देने के लिए केंद्र में होंगे—दायीं तरफ भी और, सबसे बढ़कर, केंद्र में भी। इसलिए विचारकों को दोनों पक्षों से प्रवेश करने, अपने तर्कों को मुख्य मंच तक ले जाने और विचारों को खुले मंच पर टकराने देने में सक्षम होना चाहिए। यह दर्शकों पर निर्भर है कि वे सोचें और अपनी राय बनाएँ। हमारी स्मृतियाँ इसे मंथन कहती हैं, एक बौद्धिक समुद्र-मंथन। जिस प्रकार देवों और असुरों ने मंदराचल पर्वत के दोनों ओर अपना-अपना स्थान लिया था, उसी प्रकार विरोधी शक्तियों के घर्षण से ही सत्य का अमृत प्रकट हुआ था। और यही हमारा दर्शन है, यही हमारी परंपरा है, यही हमारे डीएनए में है।

वह नाटक कभी समाप्त नहीं होता। वह दर्शकों को प्रश्नों के साथ घर भेजता है और स्वतंत्र जिज्ञासा के बीज उनके भीतर छोड़ जाता है। इस प्रकार, दर्शक दोनों पक्षों को लगातार मंथन करते हुए देखते हैं, दोनों अपनी-अपनी ओर से खींचते हैं और उस मंथन से जो कुछ भी निकलकर सामने आता है, वह दर्शकों के देखने के लिए मौजूद होता है। हालाँकि, दशकों तक हमारे सांस्कृतिक और बौद्धिक पारिस्थितिकी तंत्र ने मंच के एक ही पक्ष को असंगत रूप से हावी होने दिया, जबकि विचारों की वैकल्पिक परंपराओं को पीछे धकेल दिया गया—साहित्य, अकादमिक जगत, संगीत, रंगमंच, सिनेमा—हर जगह। एक ही पक्ष—एक ही वैचारिक पक्ष—की यह असंतुलित उपस्थिति इस हद तक बढ़ गई कि वह दूसरे पक्ष को पूरी तरह मिटा सकती थी, अगर कुछ भैरप्पा न होते।

केवल एक ही पक्ष के कलाकारों से सजा मंच कोई नाटक प्रस्तुत नहीं करता; वह केवल एक वैचारिक एकालाप प्रस्तुत करता है। डॉ. भैरप्पा का बौद्धिक साहस इस बात में निहित था कि उन्होंने दूसरे पक्ष को भी मंच पर स्थान दिलाए रखा। संस्थागत निर्णायक मंडलों के विरोध के बावजूद, उन्होंने अपने लाखों पाठकों के सीधे समर्थन से बाहर से उस सीमा को तोड़ दिया। उन्होंने यह साबित कर दिया कि दूसरे पक्ष का भी एक जीवंत दर्शक-वर्ग मौजूद था, जिसके अस्तित्व से प्रतिष्ठान लंबे समय से पूरी तरह इनकार करता आया था। लेकिन इनकार की यह संरचना—मैं इसे चर्चा के मुख्य बिंदु के रूप में छोड़ना चाहूँगा, जिस पर इस देश में बहस जारी रहनी चाहिए।

इन सबकी जड़ें बहुत पुरानी हैं। भारत के बौद्धिक मंच से विचारों को हाशिए पर धकेलने की प्रक्रिया 1947 से बहुत पहले ही शुरू हो चुकी थी। इसकी शुरुआत औपनिवेशिक इतिहास-लेखन से हुई थी। आपने पिछले वक्ता—जो इस पुरस्कार के प्राप्तकर्ता हैं—को उन विभिन्न बिंदुओं के बारे में बताते हुए सुना, जहाँ से इस इनकार की प्रक्रिया की शुरुआत हुई थी। मेरा यहाँ यह सब कहने का आशय नहीं था, लेकिन आज हम जिस इतिहास की बात कर रहे हैं—विक्रम बिल्कुल ठीक कह रहे थे कि आज के पुरस्कारों में बंगाल का दबदबा है। वही बंगाल, जिसके बारे में हम प्लासी की लड़ाई के संदर्भ में सुनते हैं, जब क्लाइव ने युद्ध लड़ा था। लेकिन जो इतिहास हम पढ़ते हैं, उसमें बंगाल के उस पराजित शासक की क्रूरता के बारे में कभी नहीं बताया जाता। ठीक उसी तरह, जैसे टीपू के मामले में भी हुआ।

देखिए, हमारा दुर्भाग्य क्या है—प्लासी की लड़ाई के बाद क्लाइव बंगाल में जहाँ-जहाँ गया, वहाँ के लोगों ने उसका स्वागत किया, क्योंकि उसने उस क्रूर शासक को हरा दिया था! यह दुर्भाग्यपूर्ण है, लेकिन ये ऐसे इतिहास हैं जिन्हें सामने नहीं लाया जाता। आपको शायद यही सुनने को मिलेगा—"एक भारतीय राजा, एक राष्ट्रवादी राजा को एक अंग्रेज़ व्यापारी ने हरा दिया।" लेकिन उस पराजित व्यक्ति की क्रूरता के बारे में आपको नहीं बताया जाता। इसका अर्थ यह नहीं कि इससे क्लाइव कोई सद्गुणी सिद्ध हो जाता है, लेकिन तथ्य यह है कि इतिहास पर इसी तरह पर पर्दा डाला गया है। इसीलिए भारतीय शिक्षा पर अपने विवरण में मैकॉले ने कहा था—मैं उद्धृत कर रही हूँ:

"मैंने उनमें से एक भी ऐसा व्यक्ति कभी नहीं पाया जो इस बात से इनकार कर सके कि किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक अकेली शेल्फ भारत और अरब के समूचे देशी साहित्य से अधिक मूल्यवान है।"

"संस्कृत भाषा में लिखी गई सभी पुस्तकों से संकलित समस्त ऐतिहासिक जानकारी, इंग्लैंड के प्रारंभिक विद्यालयों में इस्तेमाल होने वाली सबसे साधारण संक्षिप्त पुस्तकों में उपलब्ध सामग्री से भी कम मूल्यवान है।" —उद्धरण समाप्त। मुझे आशा है कि इस उद्धरण में कही गई बेतुकी बात की गंभीरता अब हमारे दिमाग में उतर गई होगी। और यह बात 2 फरवरी 1835 को जनरल डिपार्टमेंट में दर्ज की गई थी—मैकॉले के *Selections from Educational Records* में। उन्होंने अपने उसी मिनट की शुरुआत एक ऐसी पंक्ति से की थी, जिसमें विडंबना और अहंकार दोनों दिखाई देते हैं। उन्होंने लिखा था: "मुझे न तो संस्कृत का ज्ञान है, न अरबी का।"

लेकिन उस दुस्साहस को देखिए जिसके साथ उसने अपना निष्कर्ष निकाला! उसने पहले अपनी अज्ञानता स्वीकार की और उसके तुरंत बाद अपना फैसला सुना दिया, और किसी भी चरण में उसने सबूतों पर गौर करने की ज़हमत नहीं उठाई। जिस क्रम में यह फैसला सुनाया गया, वह ऐसा था मानो मुकदमा शुरू होने से पहले ही सज़ा सुना दी गई हो—और यही इस पूरे उपमहाद्वीप की शिक्षा-नीति बन गई। 1817 में जेम्स मिल ने *The History of British India* प्रकाशित की, जो हेलीबरी में मानक पाठ बन गई थी, जहाँ ईस्ट इंडिया कंपनी उन लोगों को प्रशिक्षित करती थी जिन्हें हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा जाता था। और जेम्स मिल की 1817 की यह *History of British India* भारत में एक बार भी कदम रखे बिना और कोई भारतीय भाषा सीखे बिना लिखी गई थी। उनका मानना था कि एक योग्य व्यक्ति भारत में अपनी आँखों और कानों का इस्तेमाल करके जीवनभर में जितना सीख सकता है, उससे कहीं अधिक वह इंग्लैंड में अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर केवल एक वर्ष में सीख सकता है।

और इसकी तुलना उससे कीजिए जो मैंने भैरप्पा के बारे में कहा था—कि कैसे वे अलग-अलग जगहों पर गए, लोगों के बीच रहे, उनकी पृष्ठभूमि को समझा और फिर अपनी पुस्तक लिखी। और उन्हें एक दायरे में सीमित कर दिया जाता है, जबकि यही बात हमें लगातार परोसी जा रही है; हमारे स्कूलों और कॉलेजों में भी यही पढ़ाया जा रहा है। जिस सभ्यता को वे खारिज कर रहे थे, उसने हजारों वर्षों तक इतिहास के उन्नत और परिष्कृत अभिलेख सहेजकर रखे थे। 1148 और 1150 ईस्वी के बीच कश्मीर में लिखते हुए कल्हण ने *राजतरंगिणी* की शुरुआत इतिहासकार के कर्तव्य को परिभाषित करते हुए की थी। और वे संस्कृत में क्या कहते हैं? मैं इसका अनुवाद करती हूँ: "केवल वही श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसनीय है," वे कहते हैं, "केवल वही श्रेष्ठ पुरुष प्रशंसनीय है जिसकी वाणी, राग और द्वेष से मुक्त होकर, अतीत की घटनाओं का वर्णन करते समय किसी न्यायाधीश की भाँति निष्पक्ष रहती है।"

कल्हण की राजतरंगिणी—1148 ईस्वी का वह ऐतिहासिक अभिलेख। और फिर, सदियों बाद, आपके सामने मैकॉले हैं, जो कहते हैं कि उन्हें संस्कृत या अरबी का ज्ञान नहीं है—"लेकिन फिर भी मैं इस पर अपना निर्णय सुना दूँगा।" यह वस्तुनिष्ठता की वही परिभाषा है—राजतरंगिणी में दी गई वह परिभाषा, जिसका मैंने आपसे उल्लेख किया—जिसे कोई भी आधुनिक इतिहासकार सहर्ष स्वीकार करेगा। और यह मैकॉले से आठ शताब्दी पहले संस्कृत में लिखी गई थी। और जब आर. जी. भांडारकर, के. पी. जायसवाल और हेमचंद्र रायचौधुरी जैसे आरंभिक राष्ट्रवादी विद्वानों ने इन स्वदेशी ऐतिहासिक अभिलेखों को पुनः खोजकर सामने लाए, तो उन्होंने भारत की सुदृढ़ ऐतिहासिक चेतना को प्रमाणित किया। आज उनकी एक नई पीढ़ी भी यही काम कर रही है; वे मेरे सामने यहाँ मौजूद हैं, और यह देखकर सचमुच मेरे रोंगटे खड़े

हो जाते हैं। हमारे इतिहासकार—हमारी यह परंपरा—अब धीरे-धीरे अपना उचित स्थान प्राप्त कर रही है। और यही वह चीज़ है, जिससे हम स्वतंत्रता के बाद के कई दशकों तक वंचित रहे।

तो 1947 के बाद क्या हुआ और उसे स्वीकार करने से इनकार करने की कीमत क्या रही? यह उम्मीद करना स्वाभाविक था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ बौद्धिक उपनिवेश-मुक्ति भी आएगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि माननीय प्रधानमंत्री को लाल किले की प्राचीर से खड़े होकर कहना पड़ा—"पंच प्राण: इस औपनिवेशिक मानसिकता से बाहर निकलो, औपनिवेशिकता से जुड़ी हर चीज़ से बाहर निकलो।" उन्हें यह बात अब आकर कहनी पड़ी। 60 के दशक के उत्तरार्ध और 1970 के दशक में, केंद्रीय शिक्षा मंत्रालयों के संरक्षण में आईसीएचआर (ICHR), एनसीईआरटी (NCERT), आईसीएसएसआर (ICSSR) जैसे प्रमुख शोध संस्थाएँ और विश्वविद्यालयों के संकाय वैचारिक नेटवर्क के गढ़ बन गए। बहुत बड़े गढ़ —और उन्हें भरपूर समर्थन भी मिला: धन और संरक्षण, दोनों का।

न्हें भारी मात्रा में धन, संरक्षण और समर्थन दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप वे इतनी सारी चीज़ें करने में सफल रहे कि आज भी हमारे लिए उन्हें उखाड़ फेंकना मुश्किल हो रहा है। वे इतनी गहराई तक जड़ें जमा चुके हैं। एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकों ने हर कालखंड में वर्ग-संघर्ष और आर्थिक नियतिवाद (economic determinism) को संस्थागत रूप दे दिया: रोमिला थापर, *Ancient India* (प्राचीन भारत), 1966; आर. एस. शर्मा, *Ancient India*, 1977; सतीश चंद्र, *Medieval India* (मध्यकालीन भारत), 1978; बिपिन चंद्र, *Modern India* (आधुनिक भारत), 1971। वाह! एक के बाद एक कई खंड, उनका व्यापक प्रसार, और स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों तक उन्हें लागू करने का आदेश! वे ही वह केंद्रबिंदु बन गए, जिसके इर्द-गिर्द हर चीज़ का इतिहास सुनाया जाने लगा। विजयनगर, पल्लव, चोल, पांड्य, अहोम, मराठा और हमारे समुद्री साम्राज्यों की सभ्यतागत निरंतरता को फुटनोट्स तक सीमित कर दिया गया, जबकि विजेताओं के लिए पूरे-पूरे अध्याय आवंटित कर दिए गए।

और उस आधिकारिक रुख को खारिज करने की कीमत क्या होती है, यह खुद भैरप्पा ने 1969 में सिद्ध करके दिखाया था। हमने इसे खुद भैरप्पा पर बने वीडियो के एक अंश में देखा भी था।

केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय एकीकरण के बैनर तले पाठ्यपुस्तकों—विशेष रूप से स्कूली पाठ्यपुस्तकों—की समीक्षा के लिए राजनयिक जी. पार्थसारथी की अध्यक्षता में एक पाँच सदस्यीय राष्ट्रीय समिति का गठन किया था। जब समिति ने काशी विश्वनाथ और मथुरा मंदिरों के विध्वंस के प्रमाणित संदर्भों को हटाने का कदम उठाया, तो डॉ. भैरप्पा ने बुनियादी सिद्धांतों के आधार पर इस पर कड़ी आपत्ति जताई। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हर साल लाखों तीर्थयात्री काशी और मथुरा जाते हैं और वे खुद देख सकते हैं कि ढहाए गए मंदिर के ढांचों पर मस्जिदें खड़ी हैं।

उन्होंने सीधे सवाल उठाया: "अगर इतिहास सत्य पर आधारित नहीं है, तो उसका मूल्य ही क्या है?" और इसे मैंने 8 अक्टूबर 2006 को 'विजय कर्नाटक' में प्रकाशित भैरप्पा के अपने विवरण से लिया है। राजनयिक जी. पार्थसारथी ने निजी तौर पर यह स्वीकार किया कि भैरप्पा की आपत्तियाँ अकादमिक दृष्टि से उचित थीं, लेकिन उनका कहना था कि राज्य की नीति इन संदर्भों को हटाने की माँग करती है। और इसीलिए जब मैं कहती हूँ कि इतिहास को विकृत करने वाले इतिहासकारों को व्यापक संरक्षण मिला था और वह संरक्षण स्वयं राज्य की ओर से था, तो उसका यही संदर्भ है। भैरप्पा पीछे हटने को तैयार नहीं हुए। इसके लगभग दो सप्ताह बाद समिति का पुनर्गठन किया गया और भैरप्पा को उसमें नहीं रखा गया—जैसा कि उन्होंने उस साक्षात्कार में बताया था, जिसका अंश हमने अभी उस वीडियो में देखा। उनकी जगह एक स्वीकृत इतिहासकार, अर्जुन देव, को शामिल किया गया।

स्मृति को शायद ही कभी बेईमानी के नाम पर नियंत्रित किया जाता है। इसे लगभग हमेशा विवेक या सावधानी के नाम पर नियंत्रित किया जाता है, और यही बात इसके विरोध को बेहद कठिन बना देती है। यह असमानता एक भाषा के बाद दूसरी भाषा में भी जारी रही। यह

असमानता तेलुगु साहित्य में भी जारी रही। श्री श्री—श्रीरंगम श्रीनिवास राव—ने 'महाप्रस्थानम्' में क्रांतिकारी कल्पना को अभिव्यक्त किया। वे तेलुगु में कहते हैं:

ई देश चरित्र चूसिना एमुन्दि गर्वकारणम्?

नरजाति चरित्र समस्तम् परपीडन परायण भावम्।

किसी भी देश का इतिहास उठाकर देख लें। उसमें गर्व करने लायक क्या है? मानव जाति का पूरा इतिहास उत्पीड़न के पीछे भागने का इतिहास है।" वे 1950 में प्रकाशित 'महाप्रस्थानम्' में 'देशचरित्रलु' नामक अपनी कविता में यह कहते हैं।

चेलम, एक और प्रसिद्ध तेलुगु लेखक, इससे भी आगे गए और स्थापित पारिवारिक तथा सामाजिक संरचनाओं को सीधे चुनौती दी। दूसरी ओर कवि सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण खड़े थे, जिन्हें बाद में एक खाँचे में रख दिया गया, जिन्होंने भारत की सभ्यतागत निरंतरता का बचाव किया। जब उनसे पूछा गया कि दुनिया को एक और रामायण की क्या आवश्यकता है, तो उन्होंने उसी विद्रोही सवाल के साथ 'रामायण कल्पवृक्षम' की शुरुआत की: "मराला निदीला रामायणम्... बन्नाचो?" जिसका अर्थ है: "यदि आप पूछते हैं—उद्धरण यह है—यदि आप पूछते हैं, 'भला फिर से रामायण क्यों?', तो यह लीजिए: रामायण कल्पवृक्षम।" तेलुगु साहित्य में, ये द्वारपाल तय करते थे कि वे किस तरह कुछ लोगों को स्वीकार करेंगे और किस तरह कुछ अन्य लोगों को एक खांचे में कैद कर देंगे।

तो विश्वनाथ को 1962 में साहित्य अकादमी पुरस्कार और फिर 1970 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया, जो श्री श्री को कभी नहीं मिला। उनके पाठक थे, उनके अनुयायी थे; उनके लिए पाठक ही सब कुछ था। लेकिन क्या इनमें से किसी ने भी उस मंच पर समान रूप से भूमिका निभाई—वह रूपक जो मैं आपके सामने गढ़ रही हूँ? ऐसा नहीं हुआ। आलोचक और पत्रिकाएँ, पाठ्यक्रम और साहित्यिक मानचित्र—सब कुछ दूसरे पक्ष के इर्द-गिर्द ही खींचे गए थे। विश्वनाथ को एक संशोधनवादी, पुनरुत्थानवादी और पुराने छंदों से चिपके रहने वाले व्यक्ति के रूप में खंगाल कर अलग रख दिया गया। उनकी विद्वता को स्वीकार तो किया गया, लेकिन किनारे कर दिया गया। इसलिए यदि आपको लगता था कि यह सिर्फ कर्नाटक और सिर्फ आंध्र प्रदेश तक ही सीमित था, तो तमिलनाडु में तो इससे भी बुरा होने वाला था।

मैं एक मिनट के लिए बाद की घटना से शुरू करके पीछे की ओर जाना चाहता हूँ। फरवरी 2009 में बजट भाषण के दौरान मंत्री—मेरा खयाल है कि वे प्रोफेसर अनगरन थे—अपने भाषण में कहते हैं: "हम 28 लेखकों के सम्मान और गरिमा को पुनर्स्थापित करते हैं।" तो भला ये 28 लेखक कौन थे? मैं उनके नाम बताऊँगा, लेकिन नाम लेने से पहले यह समझना ज़रूरी है कि ये वही लेखक थे जिन्हें 1949 से, या उससे कुछ पहले से, एक विशेष वैचारिक धारा के भीतर देखा जाता रहा था। 1949 वह वर्ष था जब एक राजनीतिक दल के रूप में द्रमुक (DMK) का जन्म हुआ था। और उससे पहले ही द्रविड़ आंदोलन (Dravida Iyakkam) शुरू हो चुका था, जो द्रविड़र कड़गम (Dravidar Kazhagam) के नाम से संगठित था। यह किसी राजनीतिक दल की अपेक्षा अधिक एक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन था।

तो तब से लेकर, किसी भी ऐसे लेखक की रचनाओं में यदि दो विशेषताएँ थीं—राष्ट्रवाद या हिंदुत्व, या फिर हिंदू धर्म से जुड़ी साहित्यिकता चाहे वह रामायण हो या महाभारत, यदि लेखन इनमें से किसी से भी प्रभावित था—तो ऐसे लेखकों को एक खांचे में रख दिया गया, उनकी उपेक्षा की गई, और बात यदि यहीं तक रहती तो ठीक था, उन्हें प्रताड़ित भी किया गया, सार्वजनिक रूप से अपमानित किया गया और भी बहुत कुछ। उनमें से कई लोगों के साथ ऐसा हुआ। और यह आंदोलन अत्यंत आक्रामक था। इसे एक बार फिर राज्य सरकार का समर्थन प्राप्त था। तमिलनाडु में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की हार के बाद, सत्ता में रहने वाली पार्टी हमेशा द्रविड़वाद से प्रभावित रही है, जो राष्ट्रवाद के खिलाफ, संस्कृत के खिलाफ और हिंदू विचार से प्रभावित किसी भी चीज़ के खिलाफ था।

एक सरल उदाहरण लेते हैं: कम्ब रामायणम् तमिल में रामायण का एक महान उदाहरण है, जिसे कंबन ने लिखा था। यह वाल्मीकि रामायण का हूबहू अनुवाद नहीं है; इसमें तमिल चिंतन और जीवन-दृष्टि का भी समावेश है—समुद्र तटीय जीवन, पर्वतीय क्षेत्र और वहाँ की जीवन-पद्धतियाँ, इन सभी को कंबन की रामायण में पिरोया गया है। द्रविड़ आंदोलन द्वारा इसकी कड़ी आलोचना की गई थी। मैं किसी का नाम नहीं ले रही, लेकिन तमिलनाडु के एक अत्यंत प्रमुख राजनीतिक नेता ने रामायण के श्रृंगार रस से जुड़े कुछ प्रसंगों का बेहद आपत्तिजनक रूप से चित्रण किया। उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया गया मानो रामायण स्वयं अश्लील हो। इस हद तक उन्होंने रामायण को बदनाम और कलंकित किया।

इसलिए एक बेहद देशभक्त तमिल व्यक्ति थे, जिन्होंने कहा, "नहीं, मैं इसे कतई स्वीकार नहीं करूँगा। राम मेरे नायक हैं, राम मेरे ईश्वर हैं, और रामायण मुझे इतनी अच्छी बातें सिखाती है कि मैं चाहता हूँ कि मेरे बच्चे और आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें जानें।" इसलिए उन्होंने सत्ताधारी व्यवस्था—जो हिंदू धर्म से जुड़ी हर बात, राष्ट्रवादी विचारों, संस्कृत और हिंदू चिंतन के खिलाफ़ खड़ी थी—के विरोध के एक प्रतिरोध-केंद्र के रूप में पूरे तमिलनाडु में 'कंबर कड़गम' की स्थापना की। उन्होंने जगह-जगह कंबर कड़गम स्थापित किए। आज भी कंबर कड़गम फल-फूल रहा है और कंब रामायणम् के प्रचार-प्रसार में सक्रिय है।

इसी तरह एक और लेखक थे—रसिकमणि टी.के. चिदंबरनाथ मुदलियार। वे भी रामायण के बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने 'कंबन तरुम रामायणम्' लिखी, जिसका अर्थ है—'कंबन द्वारा प्रदान की गई रामायण'। उनका भी बहिष्कार कर दिया गया और सवाल उठाया गया, 'आप ऐसा कैसे कर सकते हैं?' ऐसे कई उदाहरण हैं: वैयापुरी पिल्लै एक महान विद्वान और साहित्यिक आलोचक थे; उन्हें भी हाशिए पर ढकेल दिया गया। इसलिए फरवरी 2009 में तमिलनाडु के वित्त मंत्री ने जिन 28 लेखकों के बारे में कहा था कि 'हम उनके सम्मान और गरिमा को पुनर्स्थापित कर रहे हैं', वे वही लोग थे जिन्हें केवल राष्ट्रवादी होने, भारत के बारे में सोचने और उसकी प्राचीन संस्कृति के प्रति निष्ठा रखने के कारण बहिष्कृत और हाशिए पर डाल दिया गया था।

सोचिए, द्रविड़ आंदोलन का ही हिस्सा रही एक पार्टी जब सत्ता में आई, तो उसे अपने बजट भाषण में यह घोषणा करनी पड़ी कि 'हम उन लेखकों के सम्मान को पुनर्स्थापित करना चाहते हैं; उन्होंने अपने जीवनकाल में जितनी किताबें प्रकाशित की थीं, उनके मूल्यांकन के आधार पर हम उनके परिवारों को वित्तीय मुआवज़ा देंगे।' जब यह पुनर्स्थापना की गई, तब तक उनमें से कई लेखक जीवित भी नहीं थे। यहाँ तक कि कुछ परिवारों ने इस फ़ैसले का खुलकर विरोध किया, क्योंकि उनकी किताबों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा था। द्रविड़वाद के कारण दशकों तक इस उत्पीड़न को झेलने वाले वे परिवार अपने छोटे-छोटे प्रकाशनों के ज़रिए खुद ही अपने दादा-पिता की उन रचनाओं को छाप रहे थे, जिन्हें द्रविड़ संस्कृति ने सिरे से ख़ारिज कर दिया था। उन परिवारों का कहना था, 'हम खुद इन्हें छाप रहे हैं, आपको आकर हमें कुछ भी बताने की ज़रूरत नहीं है। हम चाहे 200 प्रतियाँ छापें या 500, लेकिन इसका राष्ट्रीयकरण करने वाले आप कौन होते हैं? आप ही तो वे लोग थे जिन्होंने इतने लंबे समय तक इनका अपमान किया था।

लेकिन ख़ैर, उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। मगर यह उन लोगों को विचारधारा के दायरे में बाँधने का इतिहास है, जो हमारे स्वतंत्र भारत के संरक्षकों (गेटकीपरों) के खिलाफ़ चले गए। ये वे लोग थे जिन्होंने भारतीय संस्कृति के बारे में गर्व से लिखा। इन सभी 28 लेखकों के सम्मान को 2009 के एक बजट भाषण में पुनर्स्थापित करना पड़ा। तो इस पूरे गेटकीपिंग तंत्र को भारी समर्थन प्राप्त था। आप ही बताइए, हममें से कितने लोग 'सोवियत लैंड पब्लिकेशन' से प्रभावित नहीं हुए होंगे? कितनी शानदार किताबें। वे कितनी खूबसूरत किताबें छापते थे, लेकिन वे सब प्रचार सामग्री (प्रोपेगैंडा) थीं। हालाँकि, उस सबमें मुझे पुष्किन को समझने का फायदा मिला। कितने सुंदर चित्र होते थे! लेकिन इस पूरे तंत्र को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ही वित्तपोषित करता था।

तमिलनाडु के हर घर में वियतनाम युद्ध क्यों हुआ, इस पर किताब मिल जाती थी। लेकिन यह बताने के लिए एक भी किताब नहीं थी कि हमें अमेरिका से गेहूं आयात करने की स्थिति में क्यों आना पड़ा। यह बताने के लिए कोई किताबें नहीं थीं। मैंने तमिल में 'येन इंद्रा वियतनाम

पोर?' यानी 'यह वियतनाम युद्ध क्यों चल रहा है?' की प्रतियाँ पढ़ी हैं। लेकिन यह फंड जो इन सभी प्रकाशनों और सुंदर सांस्कृतिक घरों का समर्थन करने के लिए आया था—मुझे विश्वास है कि शांतिश्री हमें इसके बारे में और बहुत कुछ बता सकती हैं। इन अद्भुत प्रकाशनों के माध्यम से आपके मन में पैठ बनाने का जो प्रयास किया गया, वह लगभग सन 2000 तक जारी रहा, ऐसा मुझे लगता है। और जिसके बाद, ज़ाहिर है, विक्रम संपत जैसे कई लोग अपने स्तर पर कर रहे हैं।

यह एक वैश्विक पैटर्न है। आपने सुना होगा कि कैसे—मैं केरल के बारे में बात करना भूल गया था: केरल में 'प्रभात बुक हाउस' की 28 शाखाएँ थीं, जो मोबाइल वैन के जरिए गाँवों में किताबें पहुँचाती थीं—यह सब प्रचार सामग्री (प्रोपेगेंडा) थी। यहाँ तक कि पॉल जाचारिया (Paul Zacharia) जैसे लेखकों ने भी एक बार टिप्पणी की थी, 'जब मैं 12 वर्ष का था, तब तक मैं एक कट्टर कम्युनिस्ट बन चुका था।' सोचिए बच्चों पर इसका कितना गहरा प्रभाव पड़ा है! मैंने आपको तमिलनाडु में कम्बन को जीवित रखने के लिए सा. गणेशन् (Sa. Ganesan) द्वारा शुरू किए गए 'कंबर कड़गम' के बारे में बताया था। लेकिन 2013 जितने बाद के समय में भी, जो डी'क्रूज़ (Joe D'Cruz)—मैं नहीं जानती कि आप में से कितने लोगों ने इसके बारे में सुना है—जो तमिलनाडु के दक्षिणी हिस्सों के मछुआरा समुदाय से ताल्लुक रखते हैं, उन्होंने 'आझी सूझ उलगु' (Aazhi Soozh Ulagu) नाम से एक किताब लिखी, जिसका अर्थ है—वह दुनिया जो समुद्र से घिरी हुई है।

साहित्य अकादमी ने उनके पुरस्कार की घोषणा की। लेकिन इससे पहले कि वे पुरस्कार प्राप्त कर पाते, प्रकाशक ने कहा, 'नहीं, नहीं, हम आपकी किताब प्रकाशित नहीं करेंगे, क्षमा करें।' और वहाँ एक बड़ा हंगामा मच गया। भला क्यों? उन्होंने गुजरात के मुख्यमंत्री की एक बहुत अच्छी प्रशासन व्यवस्था होने, उद्योगों के आने और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समझने के लिए प्रशंसा की थी। उन्होंने खुद एक बहुराष्ट्रीय कंपनी के लिए काम किया था, लेकिन उन्होंने उस मछुआरा समुदाय और तटीय क्षेत्र के बारे में यह अद्भुत किताब लिखी थी जिससे वे ताल्लुक रखते थे। प्रकाशकों ने उनकी किताब छापने से इनकार कर दिया! उन्होंने कहा, 'नहीं, नहीं, आप इस तरह मुख्यमंत्री की प्रशंसा कैसे कर सकते हैं?' तो यह सिलसिला 2013 जितने बाद के समय तक भी जारी रहा।

वह सोवियत युग, अगस्त 1934 में आंद्रेई झदानोव (Andrei Zhdanov) कहते हैं: 'हाँ, सोवियत साहित्य पक्षपाती है, क्योंकि वर्ग संघर्ष के इस दौर में ऐसा कोई साहित्य न तो है और न ही हो सकता है जो वर्गीय साहित्य न हो। और इसलिए हम प्रकाशन करेंगे।' यह एक खुला बयान था। और वह प्रकाशन केवल 'सोवियत लैंड' पर ही नहीं रुका; वह पूरी दुनिया में फैल गया। वे इस हद तक चले गए कि यहाँ तक कि एक अद्भुत संगीतकार, त्वाइковский (Tchaikovsky), को भी पहले ब्रांड किया गया, फिर से री-ब्रांड किया गया, और फिर, काफी सुधार-संवार करने के बाद, उन्हें एक सच्चे रूसी जीनियस के रूप में स्वीकार किया गया। लेकिन पहले उन्हें बाहर कर दिया गया था, और बहुत अधिक लीपा-पोती के बाद, उन्हें वापस लाया गया।

ब्रिटेन में भी, हाल ही तक आपने रोजर स्क्रूटन (Roger Scruton) को इन बातों पर चर्चा करते हुए सुना होगा। उन्होंने बताया कि 1979 में 'द मीनिंग ऑफ कंजर्वेटिज्म' (The Meaning of Conservatism) पुस्तक प्रकाशित करने से उनके अकादमिक करियर का जो कुछ भी हिस्सा बचा था, वह लगभग पूरी तरह बर्बाद हो गया। ब्रिटेन में 1979 जितने बाद के समय में भी, दक्षिणपंथी वैचारिक रुझान से लिखने वाले किसी व्यक्ति का करियर सिर्फ इसलिए खत्म कर दिया गया क्योंकि उसने 'द मीनिंग ऑफ कंजर्वेटिज्म' लिखी थी। उन्होंने यह बात नोट की कि अपने कैम्ब्रिज कॉलेज के पुस्तकालय में उन्हें मार्क्स, लेनिन और माओ तो मिले, लेकिन स्ट्रॉस, वोएगेलिन, हायेक या फ्रीडमैन में से कोई नहीं मिला। उन्होंने यह बात 2003 में कही। उन्होंने सवाल किया: शिक्षा प्रणाली में दक्षिणपंथियों को हाशिए पर क्यों धकेला जाता है, मीडिया में उनकी निंदा क्यों की जाती है, और राजनीतिक वर्ग द्वारा उन्हें अछूतों की तरह क्यों देखा जाता है?

और उन्होंने अपनी पुस्तक *'फूल्स, फ्रॉड्स एंड फायरब्रांड्स'* (Fools, Frauds and Firebrands)में यह बात कही है। वे इसी स्थिति की ओर इशारा करते हैं। तो इस तरह का उत्पीड़न यूनाइटेड किंगडम जैसे देश में भी देखने को मिलता है। मार्गरेट थैचर ने इसके परिणामस्वरूप बनने वाली सहमति की स्थिति को इन शब्दों में परिभाषित किया था—मैं उद्धृत कर रहा हूँ 'सभी विश्वासों, सिद्धांतों, मूल्यों और नीतियों को त्यागते हुए किसी ऐसी चीज़ की तलाश करने की प्रक्रिया, जिस पर विश्वास तो कोई नहीं करता, लेकिन जिसका विरोध भी कोई नहीं करता।' मार्गरेट थैचर की यह खासियत थी कि वे इतनी खूबसूरती से इस बात का निचोड़ निकाल लेती थीं। इसे दोबारा याद करना सार्थक होगा: 'सभी विश्वासों, सिद्धांतों, मूल्यों और नीतियों को त्यागते हुए किसी ऐसी चीज़ की तलाश करने की प्रक्रिया, जिस पर विश्वास तो कोई नहीं करता, लेकिन जिसका विरोध भी कोई नहीं करता।'

तो आज, हम देख रहे हैं कि विरोध की आवाज़ें पूरी स्पष्टता और प्रखरता के साथ उठ रही हैं। यहाँ के विचारकों से ठीक इसी बात की माँग की गई थी: या तो वे किसी कृत्रिम राजनीतिक सहमति के सामने आत्मसमर्पण कर दें या फिर संस्थागत बहिष्कार का सामना करें। हमने दशकों तक यही होते देखा है। यह द्वारपाल व्यवस्था आज भी जारी है। मुझे अलग से कहने की ज़रूरत नहीं है, बस यहीं देख लीजिए: डॉ. विक्रम संपत, इतिहास में डॉक्टरेट होने और रॉयल हिस्टोरिकल सोसाइटी के निर्वाचित फेलो होने के बावजूद—जिनके बहु-खंडीय ग्रंथ हज़ारों प्राथमिक दस्तावेज़ों और सैकड़ों निजी पत्रों पर आधारित हैं—उन्हें एक 'गैर-इतिहासकार', 'लोकप्रिय लेखक' और 'नौसिखिया' बताकर खारिज करने के सक्रिय प्रयास किए गए, केवल इसलिए क्योंकि उनके निष्कर्ष उनकी स्थापित विचारधारा के अनुकूल नहीं थे।

इन द्वारपालों का संदेश बेहद स्पष्ट था: आपकी डॉक्टरेट चाहे जो हो, आपके उद्धरण चाहे जितने हों, यदि आपके पास उनकी सदस्यता का कार्ड नहीं है, तो आपको मंच पर जगह नहीं मिलेगी। यही द्वारपाल विश्वविद्यालयों के पदों पर काबिज हैं और उन समितियों में बैठते हैं जो यह तय करती हैं कि एक बच्चा क्या पढ़ेगा और क्या नहीं पढ़ेगा। वे यह तय करते हैं कि किस शोध को फंडिंग मिलेगी और किसे चुपचाप फंडिंग से वंचित कर दिया जाएगा। वे किसी ऐसे देश के बारे में विदेशी अखबारों में लिखते हैं जिसके बारे में वे पहले ही फैसला सुना चुके हैं। और वे ठीक उसी मशीनरी के उत्तराधिकारी हैं जिसका वर्णन मैं करती आ रहीं हूँ। कोमिनटर्न जा चुका है, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल जा चुका है; लेकिन उसने जो आदत पीछे छोड़ी है, वह नहीं गई है। वह आदत यह पहले से तय करने की है कि साक्ष्य क्या कहने की अनुमति देंगे, और फिर उस साक्ष्य को अलग तरीके से पढ़ने वाले किसी भी व्यक्ति को एक विरोधी के बजाय एक दुश्मन की तरह ट्रीट करने की है।

यह तो सुनवाई से पहले ही फ़ैसला सुना देने जैसी बात है। और इसलिए, अंत में, आज मैं क्या माँग कर रहा हूँ? हम मंच के किसी एक पक्ष को चुप कराने की माँग नहीं कर रहे हैं, और न ही हमारी रुचि एकाधिकार को एक तरफ से हटाकर दूसरी तरफ स्थानांतरित करने में है। यदि एकाधिकार वैसा ही बना रहे और केवल कलाकार अपनी जगह बदल लें, तो इससे कुछ भी मुक्त नहीं होता; केवल प्रबंधन बदलता है। जब विरोधी विचारधारा के वर्ग से आने वाली 'घट्टश्राद्ध' जैसी फिल्म बनी—आपने इसके बारे में सुना ही होगा—तो पूरे भारत ने इसे देखा। भारत में कुछ लोगों ने इसकी सराहना की, और कुछ ने तो इसका जश्न भी मनाया। यह उदारता दोनों पक्षों की ओर से परस्पर होनी चाहिए।

यह उदारता दोनों पक्षों की ओर से परस्पर (आपसी) होनी चाहिए। हम पूरे मंच के पुनर्निर्माण की माँग कर रहे हैं: जहाँ बाईं ओर भी जगह हो, दाहिनी ओर भी जगह हो, और बीच में एक खुला केंद्र हो जहाँ विचार-प्रवाह के हर पक्ष के चिंतक मिल सकें। विचारों का टकराव एक समझदार जनता के सामने होने दीजिए, जिस पर साक्ष्यों को तौलने का भरोसा किया जा सकता है। आज का भारत पूरी तरह से आत्मविश्वास से भरा हुआ है और इस पर उसे कोई झिझक या संकोच नहीं है। अब हमने अपनी ही विरासत का अध्ययन करने के लिए किसी और की अनुमति का इंतज़ार करना छोड़ दिया है। हम अपने शिलालेखों को फिर से पढ़ रहे हैं, अपने समुद्री व्यापार के इतिहास को समझ रहे हैं, अपने प्राचीन गणित की ओर लौट रहे हैं, और इन कहानियों को पूरे आनंद के साथ-साथ पूरी सटीकता के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। मुझे लगता है कि 'वि-उपनिवेशीकरण' का वास्तविक अर्थ यही होना चाहिए।

यह केवल एक निर्धारित पाठ्यपुस्तक को दूसरी निर्धारित पाठ्यपुस्तक से बदल देने भर का मामला नहीं हो सकता। इसका अर्थ इससे कहीं व्यापक होना चाहिए—हमें अधिक विस्तृत अभिलेख-सामग्री तक पहुँचना चाहिए, अधिक भाषाओं को शामिल करना चाहिए, अधिक कठिन प्रश्न उठाने चाहिए और ऐसे विद्वानों का दायरा बहुत बड़ा करना चाहिए, जिनकी रचनाएँ वास्तव में पढ़ी जाएँ। सबसे बढ़कर, इसका अर्थ यह होना चाहिए कि कोई भी प्रतिष्ठान पहले से यह तय न करे कि साक्ष्य क्या कह सकता है और क्या नहीं। आज विविध आवाज़ों को सम्मान देने का उद्देश्य यही है—चाहे वे इतिहासकारों की हों, उपन्यासकारों की, चित्रकारों की या कथाकारों की। ये वे नई आवाज़ें हैं जो आज इस मंच पर आ रही हैं। डॉ. भैरप्पा अपने जीवन के 95वें वर्ष में हमें छोड़कर चले गए। हो सकता है कि वे अचूक न रहे हों, और यह दिखावा करना कि वे अचूक थे, उनके प्रति सम्मान नहीं होगा। लेकिन वे गहरे अर्थों में ईमानदार थे, और अपनी उस ईमानदारी की उन्हें अपने पेशे में बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। उन्होंने अपने साहित्यिक कर्म को बहुत सरल शब्दों में बताया था: "साहित्य का कार्य मानवीय संवेदना को परिष्कृत करना है।" उन्होंने कभी अनुयायियों की कोई सेना खड़ी करने की कोशिश नहीं की। उनका उद्देश्य था कि मनुष्य जिस तरह सत्य को देखता और समझता है, उस मानवीय संवेदना को परिष्कृत किया जाए: 'सत्य मट्टु सौन्दर्य'—सत्य और सौन्दर्य। हमारी जैसी प्राचीन सभ्यता के लिए यह वास्तव में बौद्धिक स्वराज का एक कार्य है। हाँ, प्रोसेनजीत, आपने यह कहकर सही कहा था कि 1991 में हमें आर्थिक स्वतंत्रता मिली। लेकिन मुझे लगता है कि बौद्धिक स्वतंत्रता अब जाकर मजबूत हो रही है। इसलिए बौद्धिक स्वतंत्रता को हमें स्वयं को जानने का अधिकार देना होगा। आज, 5 सितंबर को, अपने शिक्षकों और आज के विचारकों—डॉ. भैरप्पा—को हम जो सबसे उत्तम श्रद्धांजलि दे सकते हैं, वह यह है कि भारत के बौद्धिक मंच के दोनों पंखों को पूरी तरह प्रकाशमान रखें, ताकि यह पूरा उपक्रम चलता रहे। मंथन जारी रहे और अंततः साक्ष्य, कठोरता और अंतरात्मा ही अंतिम निर्णय दें। और आइए, हम सब मिलकर भारत को बौद्धिक स्वराज के इस स्वर्णिम युग की ओर आगे ले जाएँ।

बहुत-बहुत धन्यवाद।